# आज का बाजारवाद और साहित्यिक संदर्भ

***डॉ. मकरन्द भट्ट***

*बाबा भगवान दास राजकीय पी.जी. महाविद्यालय, चिमनपुरा, शाहपुरा।*

वैश्वीकरण और बाजारवाद के दौर में साहित्य का स्वरूप तेजी से परिवर्तित हो रहा है। एक ओर इस विज्ञापनयुगीन बाजार व्यवस्था ने मनुष्य और उसकी संवेदना पर तीव्र प्रहार किया है तो दूसरी ओर जीवन से जुड़े वे बुनियादी प्रश्न, मूल्य एवं मानदण्ड हैं, जिनसे कभी साहित्य संचालित होता था। कभी कहा जाता था कि साहित्य में सूचना, मनोरंजन और प्रेरणा के तत्वों का संतुलन होता है, पर आज प्रेरणा का स्थान प्रलोभन ने ले लिया है। इस सम्बन्ध में **कृष्णा सोबती** का कथन उल्लेखनीय है कि – **''सृजन शक्तियों को बाजार की साख से तोला जा रहा है। लेखक उसे अनदेखा करे यह मुमकिन नहीं मगर यदि हम अपनी लेखकीय स्वतंत्रता के प्रति सजग और सचेत हैं, तो समझौते नहीं करेंगे। लेखक की प्राचीन अस्मिता को दाँव पर नहीं लगाएँगे।''**[1]

आज कुछ लेखकों पर बाजार की व्यावसायिकता इस हद तक हावी हो गई है कि वे इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि वे अपनी रचना की पहचान कैसे बनायें? उन्हें लगता है उनकी रचना का सरकुलेशन बढ़ने से वे अधिक लोकप्रिय हो जायेंगे–इसके लिए वे अपनी रचना के विरूद्ध मुकदमे से लेकर फतवे तक जारी करा लेना चाहते हैं, जिससे उनकी रचना लोग पढ़ें। ऐसी रचनाएँ कुछ समय के लिए भले ही सुर्खियाँ बटोर लें, लेकिन उनका लक्ष्य पाठकों को सस्ता मनोरंजन देकर भीड़ जुटाना और ज्यादा से ज्यादा विज्ञापन पाना ही रहा है।

इस प्रकार से इसे बढ़ते हुए बाजारवाद की अन्तःप्रेरणा ही कहा जायेगा कि गम्भीर साहित्य के बजाय लोकप्रिय साहित्य के प्रति प्रकाशकों की रूचि और सक्रियता बढ़ी है और इसके पीछे सीधा–सादा मुनाफे का अर्थशास्त्र काम करता है। बड़ी रचना, यदि वह पुरस्कृत न हो, तो उसका दूसरा संस्करण नहीं छप पाता। अतः प्रकाशक ऐसी बाजारू किताबें प्रकाशित करते हैं, जिनसे उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

संकट और बिखराव के इस युग में बाजारवाद के एक अन्य पहलू पर भी विचार करना उचित होगा–वह यह कि साहित्यकार अन्तः प्रेरणा से प्रेरित होकर साहित्य सृजन करता है, लेकिन विभिन्न संस्थाओं, अकादमियों और सरकारों की ओर से जो पुरस्कार दिये जाते हैं, उनके लिए लॉबिंग होती है। अब साहित्यकारों के ऐसे गिरोह बन गए हैं, जो किसी को रातों रात महान् बना देते हैं और जो ऐसे गिरोह के सम्पर्क में नहीं हैं वे अच्छा लिखकर भी उपेक्षित हैं। उदाहरण के लिए, **बुकर** एवं **नोबल** पुरस्कार से सम्मानित रचनाओं की उत्कृष्टता को लेकर भी आलोचकों ने शंकाएँ प्रकट की हैं।

बदलते मूल्यों के इस दौर में यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या किसी रचना की लोकप्रियता उसकी उत्कृष्टता का मानक बन सकती है? क्या **कबीर, सूर, प्रसाद, निराला** और **प्रेमचन्द** की कृतियाँ कालजयी ऐसे ही बनीं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी रचना की उत्कृष्टता का मानक होता है–रचनाकार का दायित्वबोध, उसके सरोकार, उसकी जीवन दृष्टि और उसकी कलात्मक निपुणता।

बाजार–महात्म्य के इस युग में साहित्य के लिए एक चुनौती यह भी है कि वह सहज इंद्रियोपजीवी होकर न रह जाए। **रामस्वरूप चतुर्वेदी** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि –**''गोदान, चित्रलेखा या श्रीकान्त के धारावाहिक दूरदर्शन पर सुलभ हैं, 'कामायनी' और 'राम की शक्तिपूजा' पर वैसी ही नृत्य नाटिकाएँ है जो साहित्य नहीं, साहित्य के छद्म हैं क्योंकि वे अपनी प्रक्रिया में एकतरफा हैं और उनकी प्रकृति मानवीय न होकर यांत्रिक है तथा उनका आस्वाद क्रमिक न होकर**

**तुरंता है। रचनाकर और भावक का साहित्य वहाँ एकदम अनुपस्थित है।"[2]**

इस आलेख के आरम्भ में हमने इस ओर संकेत किया था कि इस नई शताब्दी में व्यापार और वाणिज्यवादी व्यवस्था का जो अंधड़ चल रहा है उसने मनुष्य की संवेदना और विचार पर हमला किया है। बहुत से शब्द जो साहित्य की रचना के बुनियादी शब्द रहे हैं, वे अपनी अर्थवत्ता खो रहे हैं। अतः साहित्यकारों को इस खतरे के विरूद्ध खड़ा होना है, मनुष्य की संवेदना और उसके मूल्यों को जिंदा रखना है तथा मनुष्य की विचार शक्ति को कुण्ठित नहीं होने देना है।

साहित्य के संदर्भ में बाजारवाद का एक दुःखद पहलू है जिस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए वह है–रचना की दृष्टि से वर्तमान समय व्यावसायिकता, उपभोक्तावाद और धनार्जन की दृष्टि से महत्त्व अर्जित करता जा रहा है अर्थात् जो लेखक और जिसकी कृतियाँ बाजार के मुहावरे में लोकप्रिय हों, वही श्रेष्ठ और **पुरस्कृत भी होती हैं।** इन सब के पीछे बाजार का एक सुनियोजित तंत्र काम करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके केन्द्र में लेखक न होकर उसका प्रकाशक होत है। प्रकाशक तो एक व्यापारी है, पुस्तक छापकर धन अर्जन करना ही उसका उद्देश्य है। अतः अपने व्यावसायिक कौशल द्वारा अपने प्रकाशन गृह में छपी हुई किताब का धुआँधार विज्ञापन करता है–वह आलोचना, गोष्ठियों और सेमिनारों के माध्यम से उक्त रचना को बहुप्रचारित और बहुविज्ञापित करके पुरस्कार योग्य सूची में डालकर उसे महत्त्वपूर्ण बना डालता है। यह सारा का सारा व्यापार एक प्रकार से प्रायोजित हुआ करता है। पुरस्कार समिति में जो विद्वान रखे जाते हैं, उन तक भी वह अपनी धन की शक्ति द्वारा अपनी अनुकूल टिप्पणी दिलाने में सक्षम हो जाता है और अन्ततः वह रचना पुरस्कृत भी हो उठती है। यहाँ पर विचार करने योग्य बात यह है कि जिस समय धन ही एकमात्र मूल्य का रूप ग्रहण कर लेता है, वहाँ अन्य सब कसौटियाँ गौण हो जाती हैं अर्थात् धन के द्वारा रचना की महत्ता, लेखकीय यश और प्रतिष्ठा का अर्जन भी सुनियोजित ढंग से होता है। सच तो यह है कि बाज़ारवाद की शक्तियाँ रचनाकर्म को प्रेरित और अनुप्राणित करने की एक सर्वसुलभ व्यापारवृत्ति बन गई है।

बाज़ारवाद का यह संदर्भ तात्कालिक दृष्टि से भले ही सफल सिद्ध होता है किन्तु रचना का वास्तविक मूल्याँकन तो काल के एक लम्बे दौर में निर्धारित होता है, इसलिए बाज़ारवाद और धन की शक्ति से श्रेष्ठता अर्जित करने वाली रचनाएँ बहुत जल्दी भुला दी जाती हैं। काल की कठोरता उन्हें विस्मृति के गर्भ में डालकर ऐसे रचना कर्म को बहुत शीघ्र कूड़ा और कचरा बना देती है जबकि दूसरी ओर एकान्त साधना में रची गई कृतियाँ बिना शोर शराबे के, बिना विज्ञापन और प्रचार के, अपनी आंतरिक शक्ति के आधार पर निरंतर प्रांसगिक बनी रहती हैं, इसलिए बाज़ारवाद, व्यासायिकता और धन की शक्ति के द्वारा प्रायोजित विज्ञापनबाजी से साहित्य का परिदृश्य बहुत थोड़े समय के लिए भले ही प्रभावित किया जाता हो, किन्तु अंत में कठोर आलोचक महाकाल की कसौटी पर उसे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी पड़ती है।

## संदर्भ


1. कृष्णा सोबती – युग–संधि पर साहित्य पृष्ठ 12, सहित (विमला देवी फाउण्डेशन न्यास की वार्षिक पत्रिका) प्रवेषांक जुलाई 2000
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी – वही पृष्ठ 13


*Copyright © 2014, Dr. Makarand Bhatt. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.*